शोध मंथन Vol. XII No.III July-Sep. 2021 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.354 (SJIF)

विलियम डेविड रॉस के नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद की समीक्षा

नेदा परवीन
शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज
ईमेलः *nedaau95@gmail.com*

प्राप्तिः 24.08.2021
स्वीकृतः 12.09.2021

सारांश

विभिन्न दार्शनिकों ने अन्तःप्रज्ञा को साक्षात् ज्ञान का आधार स्वीकार किया है। विलियम डेविड रॉस ने अन्तःप्रज्ञा को बौद्धिक शक्ति माना है जिसके द्वारा नैतिक प्रत्ययों जैसे, 'शुभ', 'उचित', 'कर्तत्व' इत्यादि का साक्षात् ज्ञान होता है। रॉस का नैतिक अन्तःप्रज्ञावादी विचार कहाँ तक युक्तिसंगत है, इस प्रश्न का उत्तर खोजने हेतु उनके नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद की समीक्षा इस शोध–पत्र में की जायेगी। साथ ही कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार किया जायेगा। शोध–पत्र के प्रथम खण्ड भूमिका में इस प्रश्न पर विचार किया जायेगा कि अन्तःप्रज्ञा एंव अन्तःप्रज्ञावाद का स्वरूप क्या है। द्वितीय खण्ड में इस प्रश्न पर विचार किया जायेगा कि नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद का स्वरूप क्या है, किस सन्दर्भ में इसकी विवेचना प्रारम्भ हुई तथा इसके अग्रणी समर्थक कौन हैं। तृतीय खण्ड में बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद के स्वरूप पर विचार किया जायेगा। चतुर्थ खण्ड में इस प्रश्न पर विचार किया जायेगा कि रॉस ने इस सिद्धान्त की व्याख्या कैसे की। पंचम खण्ड में इस प्रश्न पर विचार किया जायेगा कि रॉस के अनुसार नैतिक प्रत्ययों के ज्ञान के लिये अन्तःप्रज्ञा किस प्रकार हमारा साधन बनती है। इस शोध–पत्र के अन्तिम खण्ड में रॉस के नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद के विरूद्ध विभिन्न आक्षेपों की व्याख्या करते हुये निष्कर्ष स्थापित किया जायेगा।

मूल बिन्दु

अन्तःप्रज्ञावाद, नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद, नैतिक प्रत्यय, बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद।

भूमिका

सामान्य अर्थ में हम अन्तःप्रज्ञा को *साक्षात्* या *तत्काल* बोध का साधन कह सकते हैं। यह ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा हमें उन विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका ज्ञान साधारण अनुभवों के माध्यम से असम्भव है। साथ ही इस ज्ञान की सिद्धि हेतु तर्क या प्रमाण अनावश्यक है। उदाहरण के लिये, 2+2=4, स्पष्टतः यह ज्ञान अन्तःप्रज्ञात्मक है अतः स्वतः सिद्ध है।

अन्तःप्रज्ञावाद एक दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार मौलिक सत्यों का ज्ञान अन्तःप्रज्ञात्मक है। अर्थात् अन्तःप्रज्ञा के माध्यम से हमें सार्वभौमिक एंव वस्तुनिष्ठ सत्यों का ज्ञान होता है। अपरोक्ष ज्ञान जैसे, ईश्वर का अस्तित्व या पाप–पुण्य इत्यादि का ज्ञान साधारण अनुभवों के द्वारा नहीं हो सकता है अतः इनके ज्ञान का आधार प्रतिभान शक्ति है। नीतिशास्त्र के अन्तर्गत अन्तःप्रज्ञात्मक शक्ति की चर्चा, विशेषकर अभिप्राय मूलक कर्मों के सन्दर्भ में होती है। जब हम किसी व्यक्ति के कर्म को

उचित या अनुचित कह कर उस कर्म का अनुमोदन या अननुमोदन करते हैं तो हमारे उस अनुमोदन–अननुमोदन का आधार हम स्वयं होते हैं। अर्थात् हम अन्तःप्रज्ञा के माध्यम से ही कर्मों का औचित्य–अनौचित्य सिद्ध कर उस कर्म का अनुमोदन या अननुमोदन करते हैं। अनेक चिन्तकों ने इस शक्ति का समर्थन किया जिनमें मुख्य बातों को लेकर तो समानता है परन्तु स्वरूप के विषय में अन्तर है। अर्थात् कुछ ने बुद्धि तो कुछ ने भावना के आधार पर इसका समर्थन किया। इस शोध–पत्र का मुख्य ध्येय रॉस के अन्तःप्रज्ञावादी दृष्टिकोण की समीक्षा करना है। इस समीक्षा की प्रासंगिकता यह है कि वर्तमान युग में रॉस के बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद की सार्थकता एंव सुसंगतता सिद्ध होगी।

नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद का स्वरूप–

कुछ व्यक्ति यदि यह कहते हैं कि वस्तुनिष्ठ नैतिक तथ्यों का कोई अस्तित्व नहीं है या नैतिक कथन मात्र मिथ्या कथन हैं इत्यादि तो प्रश्न उठता है कि 'वचन के पालन' को उचित या 'हिंसा को अनुचित' कहने का क्या अर्थ है? यदि उपरोक्त बातें सही हैं तो इन कथनों का वस्तुतः कोई अर्थ नहीं होता परन्तु हम भली–भांति जानते हैं कि ये कथन निरर्थक नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ये कथन मिथ्या कथन भी नहीं हैं।[1] अब यदि हम परीक्षण करें तो हम देखेंगे कि वास्तविक कठिनाई नैतिक तथ्यों या कथनों के विषय में नहीं बल्कि उनके ज्ञान के विषय में है। इसी परिप्रेक्ष्य में कुछ नैतिक दार्शनिकों ने व्यक्ति की 'सहज शक्ति' की बात की है। उनका मानना है कि नैतिक कथनों के विषय में औचित्य–अनौचित्य का आधार हम स्वंय हैं अर्थात् अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही हम जान पाते हैं कि वचन का पालन उचित तथा हिन्सा अनुचित है। विभिन्न दार्शनिकों ने इस शक्ति का समर्थन किया जिसे सिद्धान्ततः नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद कहते हैं।

17वीं शती में इस शक्ति की चर्चा नीतिशास्त्र के अन्तर्गत प्रारम्भ हुई। विभिन्न दार्शनिकों ने नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद का समर्थन किया जिस कारण इसके विभिन्न रूप हो गये हैं अर्थात् कुछ चिन्तकों ने इस शक्ति को 'बौद्धिक' माना जिनमें मुख्य रूप से राल्फ कडवर्थ, सैमुअल क्लार्क, जॉन बैलगुए एंव रिचर्ड प्राइस का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक युग में एच0 ए0 प्रिचर्ड, जी0 ई0 मूर एंव डब्ल्यू0 डी0 रॉस ने भी अन्तःप्रज्ञा को मूलतः बौद्धिक ही माना। इन दार्शनिकों का सामान्य मत है कि बुद्धि के आधार पर ही कर्मों का औचित्य–अनौचित्य निर्धारित हो सकता है। वहीं कुछ अन्य चिन्तकों ने इसे 'भावनात्मक' माना। जिनमें शेफ्टसबरी एंव फ्रान्सिस हचिसन के नाम उल्लेखनीय है। इन चिन्तकों का मानना है कि व्यक्ति अपनी भावनाओं से प्रेरित होकर ही कर्मों का नैतिक मूल्यायन कर पाता है। वहीं कुछ अन्य चिन्तक बुद्धि एंव भावना दोनों को समान महत्व देते हुये इनके संयोजन को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस विचारधारा के मुख्य चिन्तक जोसेफ बटलर हैं। चूंकि यहाँ हमारा उद्देश्य रॉस के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करना है और रॉस ने बुद्धि के आधार पर अन्तःप्रज्ञा का समर्थन किया इस कारण हम अग्रिम खण्ड में बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद के स्वरूप पर विचार करेंगे।

बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद का स्वरूप–

बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार कर्मों के औचित्य–अनौचित्य का निध ार्रण बुद्धि के आधार पर ही सम्भव है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह दावा है कि अन्तःप्रज्ञा का स्वरूप अनिवार्यतः बौद्धिक है। अर्थात् यह शक्ति व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता के अनूरूप है। बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावादियों का मानना है कि जब व्यक्ति मूल्य आधारित, या कर्म एंव आचरण के औचित्य–अनौचित्य सम्बन्धी निर्णय लेता है तो उन निर्णयों में वास्तविक भूमिका बुद्धि की होती है।

क्लार्क, बैल्गुए, प्राइस एंव कडवर्थ का मानना है कि नैतिक निर्णयों का आधार बुद्धि एंव विवके है। अतः नैतिक निर्णयों के लिये भावनाओं का सहारा लेना अनावश्यक है। नैतिक निर्णयों में व्यक्ति की इच्छा या भावना का कोई स्थान नहीं होता है। जैसा कि कडवर्थ कहते हैं, "The abstract universal reasons (rationes) are that higher station of the mind from whence looking down upon individual things, it has a commanding view of them, and as it were *a priori* comprehends or known them."।[2] अर्थात् अमूर्त सार्वभौमिक कारण बुद्धि का वह उच्च स्थल है जो वस्तुओं को दूर से देखता है और उसके उपर व्यापक दृष्टि रखता है। यानी, बुद्धि में ही यह शक्ति विद्यमान है कि वह वस्तुओं के उपर सार्वभौमिक दृष्टि रख उनका ज्ञान प्राप्त करती है और इस प्रकार बुद्धि से प्राप्त ज्ञान ही सार्थक एंव वस्तुनिष्ठ होता है। अग्रिम खण्ड में हम देखेंगे कि रॉस ने किस प्रकार बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावाद का समर्थन किया।

नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद से सम्बन्धित रॉस के विचार–

उल्लेखनीय है कि नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद से सम्बन्धित रॉस के विचार उनकी दो पुस्तकों *The Right and the Good* एंव *Foundation of Ethics* में देखे जा सकते हैं। रॉस ने अन्तःप्रज्ञावाद से सम्बन्धित अनुभववादी विचारधारा का खण्डन किया। अनुभववादी विचारधारा के अनुसार नैतिक निर्णय हमारी भावनाओं का मात्र वर्णन करते हैं तथा उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ से सम्बन्धित विचार अनुभवात्मक रूप से हमारी संवेदनाओं से प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत रॉस बौद्धिक अन्तःप्रज्ञावादी हैं। वे यह मानते हैं कि जब हम किसी कर्म को उचित या अनुचित कहते हैं तो अवश्य ही उस कर्म के प्रति अनुमोदन या अननुमोदन की भावना को *अभिव्यक्त* करते हैं। रॉस के शब्दों में, "...because the thought of an action is right and the feeling of approval always go together. We can never judge an action right without experiencing the feeling of approval, nor vice versa."।[3] अर्थात् किसी कर्म के औचित्य का विचार एंव उसके प्रति अनुमोदन की भावना सदैव साथ–साथ चलती है। हम किसी कर्म के औचित्य का निर्णय अनुमोदन की भावना के आभाव में नहीं कर सकते हैं। परन्तु रॉस का मानना है कि नैतिक निर्णयों में भावनाओं का वर्णन गौण है। वस्तुतः हमारे अनुमादन या अननुमोदन की वस्तु एक निश्चित नैतिक

गुण रखती है अतः हम उसी के आधार पर उस कर्म का अनुमोदन या अननुमोदन करते हैं तथा उसका निर्णय करते हैं।

उल्लेखनीय है कि रॉस ने 'नैतिक वस्तुवाद' का समर्थन किया जिसके अनुसार नैतिक निर्णय किन्हीं विश्वासों को अभिव्यक्त करते हैं, यह विश्वास अधिकतर सत्य होते हैं तथा जो उन्हें सत्य बनाते हैं वह वस्तुओं विद्यमान प्रासंगिक नैतिक गुणों की उपस्थिति है। इस प्रकार ऐसे विश्वास कि, ''उदारता उचित है'' या ''चोरी करना अनुचित है'', इस तथ्य से सत्य है कि उदारता नामक कर्म में औचित्य तथा चोरी नामक कर्म में अनौचित्य के गुण विद्यमान हैं। नैतिक गुण वस्तुओं के वास्तविक गुण हैं या जैसा कि पूर्व के अन्तःप्रज्ञावादियों का कहना है कि वे प्रकषति के भाग हैं। रॉस ने इस दषष्टिकोण को अपनी पुस्तक में स्पष्टतः अभिव्यक्त किया। उनके अनुसार, "The moral order expressed in these propositions is just as much part of the fundamental nature of the universe (and, we may add, of any possible universe in which these

were moral agents at all) as is the spatial or numerical structure expressed in the axioms of geometry or arithmetic."।[4] अर्थात् नैतिक कथनों में अभिव्यक्त नैतिक आदेश विश्व की आधारभूत प्रकषति के भाग हैं जिस प्रकार गणित के कथनों में अभिव्यक्त प्रत्यय गणित के आधार हैं।

रॉस ने अन्तःप्रज्ञावाद से सम्बन्धित बहुलतावादी दषष्टिकोण का समर्थन किया। उनका मानना है कि आचरण का कोई एक निश्चित नियम या सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर कर्मों का औचित्य–अनौचित्य निर्धारित हो। अतः उन्होंने समस्त एकतत्ववादी सिद्धान्तों जैसे, परिणामवाद, उपयोगितावाद तथा सुखवाद को अस्वीकार किया। इसके विपरीत उन्होंने विभिन्न मौलिक नियमों या सिद्धान्तों का समर्थन किया जिसे वे 'प्रथम दष्ष्टया कर्तव्य' कहते हैं। उनका मानना है कि यह कर्तव्य स्वतःसिद्ध है जिसका ज्ञान अन्तःप्रज्ञात्मक है।

इस प्रकार रॉस का दावा है कि प्रतिभान अर्थात् गैर–अनुमानित, आद्य क्षमता हमें प्राप्त है जिसके द्वारा हमें निश्चित एंव स्वतःसिद्ध मौलिक नैतिक तथ्यों जैसे, झूठ बोलना या किसी व्यक्ति को क्षति पहुंचाना प्रथम दष्ष्टया अनुचित है तथा ईमानदारी एंव कष्तज्ञता प्रथम दष्ष्टया उचित है, इत्यादि का ज्ञान होता है। हालांकि रॉस कहते हैं कि यह जन्म से ही स्वतःसिद्ध नहीं होते। उनका मानना है कि जब व्यक्ति पर्याप्त मानसिक पूर्णता तक पहुंच जाता है तब स्वतः ज्ञात होता है ऐसे कथनों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। यह शक्ति किसी भी प्रकार रहस्यमयी नहीं बल्कि उसी प्रकार तात्कालिक है जिस प्रकार गणितीय नियम एंव प्रत्यय हैं। इस सन्दर्भ में रॉस का कथन है, "In both cases we are dealing with propositions that cannot be proved, but that just as certainly need no proof."।[5] अर्थात् दोंनो ही स्थिति में हम उन प्रकथनों की बात करते हैं जिन्हें प्रमाणित नहीं किया जा सकता बल्कि यों कहें कि इन्हें प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं होती है। स्पष्ट है कि रॉस ने नैतिक सत्यों के ज्ञान के लिये अन्तःप्रज्ञा को महत्वपूर्ण माना। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग गैर–अनुमानित एंव सीमा से परे एक भिन्न शक्ति के रूप में किया। अग्रिम खण्ड में हम इस तथ्य पर विचार करेंगे कि नैतिक प्रत्ययों अर्थात् उचित, शुभ एंव कर्तव्यों के ज्ञान के लिये अन्तःप्रज्ञा की क्या भूमिका है।

नैतिक प्रत्ययों का ज्ञान एंव अन्तःप्रज्ञा की भूमिका–

स्पष्ट है कि रॉस वस्तुवादी अन्तःप्रज्ञावाद के समर्थक हैं। उनका मानना है कि है कि कर्मों में विद्यमान नैतिक गुण ही कर्मों के स्वरूप निर्धारित करते हैं। ये गुण निर्प्राकषतिक गुण हैं; अर्थात् इन गुणों को प्राकषतिक विज्ञान की शब्दावली में नहीं समझा जा सकता। अतः उचित एंव शुभ वस्तुओं के सरल तथा निर्प्राकषतिक गुण हैं, इनकी परिभाषा एक–दूसरे के आधार पर नहीं की जा सकती। यही कारण है कि रॉस ने मूर के दषष्टिकोण का खण्डन किया क्योंकि मूर ने अधिकतम शुभ के आधार पर उचित की परिभाषा की थी और माना था कि 'उचित' की प्राकषतिक परिभाषा सम्भव है परन्तु शुभ की नहीं। मूर के शब्दों में, "If I am asked 'what is good?' my answer is that good is good, and that is the end of the matter. Or if I am asked 'how is good to be defined?' my answer is it cannot be defined, and that is all I have to say about it."।[6] अर्थात् यदि मुझ से पुछा जाये कि 'शुभ क्या है?' तो उत्तर यह होगा कि शुभ शुभ है। यदि मुझ से पुछा जाये कि 'शुभ को कैसे परिभाषित किया जा सकता है?' तो उत्तर यही होगा

कि शुभ की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती है। किन्तु रॉस ने 'उचित' को 'शुभ' के समान सरल और निर्प्राकषतिक एंव अपरिभाष्य कहा तथा माना कि जिस प्रकार शुभ की परिभाषा असम्भव है उसी प्रकार उचित की परिभाषा भी असम्भव है। किसी कर्म के औचित्य का आंकलन उसके शुभ–अशुभ परिणामों के आधार पर नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में रॉस स्पष्टतः कहते हैं, "...when an ordinary man says it is right to fulfil promises he is in the least thinking of the total consequences of such act, about which he knows and cares little or nothing." ।[7] अर्थात् जब एक साधारण व्यक्ति यह कहता है कि अपने वचन का पालन उचित है तो वास्तव में वह व्यक्ति इस कर्म से प्राप्त होने वाले यथासम्भव परिणामों पर विचार नहीं करता।

रॉस का मानना है कि उचित एंव शुभ को न तो एक–दूसरे के आधार पर समझा जा सकता है और न ही इनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि रॉस नीतिशास्त्र को अन्य विज्ञानों में सम्मिलित न कर उसे स्वतन्त्र विषय मानते हैं साथ ही वे संरचनात्मक ज्ञानमीमांसा का भी समर्थन करते हैं इसलिये वे उचित–अनुचित, शुभ–अशुभ के ज्ञान को प्रत्यक्ष अर्थात् अन्तःप्रज्ञात्मक मानते हैं। संरचनात्मक ज्ञानमीमांसा के अनुसार यदि हम व्युत्पन्न नैतिक सत्यों को जानते हैं तो अवश्य ही कुछ वस्तु ऐसी होगी जिसे हम अव्युत्पन्न अर्थात् प्रत्यक्षतः जानें। उदाहरण के लिये, अपने देश के नियमों का पालन करना प्रथम दृष्टया उचित कर्तव्य है तथा झूठ बोलना प्रथम दृष्टया अनुचित है, अव्युत्पन्न सत्य है। रॉस के अनुसार झूठ बोलना प्रथम दृष्टया अनुचित है, यह ज्ञान इस ज्ञान पर निर्भर करता है कि हमने सत्य बोलने का वादा किया है या झूठ बोलने से किसी को नुक़सान होगा और हम जानते हैं कि वचन तोड़ना तथा किसी को नुक़सान पहुंचाना प्रथम दृष्टया अनुचित है। परन्तु प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे जानते हैं? चूंकि न तो हम इस ज्ञान को किसी अन्य मूलभूत नैतिक कथनों से प्राप्त कर सकते हैं और न ही हम यह कह सकते हैं कि अपने वचन का पालन इसलिये करना चाहिये क्योंकि समाज वचन तोड़ने को अस्वीकार करता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि हम इसे प्रत्यक्षतः अपनी बौद्धिक अन्तःप्रज्ञात्मक शक्ति से ही जानते हैं।

शुभ के सन्दर्भ में भी रॉस मानते हैं कि स्वतः शुभ वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्षतः अर्थात् गैर–अनुमानात्मक रूप में होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रॉस नैतिक प्रत्ययों एंव कथनों के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उनके अनुसार, " We must know certain fundamental moral propositions directly, on the basis of an understanding of them. This means that the most fundamental moral propositions are self-evident." ।[8] अर्थात् हम अवश्य ही निश्चित मौलिक कथनों को उनकी समझ के आधार पर जानते हैं। इसका अर्थ यह है कि अधिकतर मौलिक नैतिक कथन स्वतःसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये, 'वचन के प्रति निष्ठा' एक स्वतःसिद्ध कथन है जिसका पालन सामान्य परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये।

रॉस के दर्शन में कर्तव्यों का विशेष महत्व है जिसे उन्होंने 'प्रथम दष्ट्या कर्तव्य' के नाम से अभिहित किया। वचन के प्रति निष्ठा, हानिपूर्ति, कष्तज्ञता, न्याय, उपकार, आत्म–उत्थान तथा गैर–अनिष्ठता ऐसे प्रथम दष्ट्या कर्तव्य हैं जो गणित के प्रत्ययों के समान सत्य है तथा जिसका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होता है। रॉस के शब्दों में, "...that they come to be self-evident to us just as mathematical axioms do." ।[9] अर्थात् इनकी स्वतःसिद्धता उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार गणितीय नियम। हालांकि रॉस मानते हैं कि इन कर्तव्यों की दष्ढ़ता का ज्ञान हमें नहीं होता

और न ही हम विशेष परिस्थिति में अपने वास्तविक कर्तव्यों को जान सकते हैं। परन्तु इन कर्तव्यों का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये।

उपरोक्त विवेचन में हमने रॉस के अन्तःप्रज्ञावादी विचारों को स्पष्ट किया साथ ही नैतिक प्रत्ययों के ज्ञान स्वरूप अन्तःप्रज्ञा की भूमिका को भी स्पष्ट किया। अग्रिम खण्ड में हम उन आपत्तियों पर दर्षष्टिपात करेंगे जो सामान्यतः रॉस के नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद के विरूद्ध उठाई जाती हैं।

रॉस के अन्तःप्रज्ञावादी विचार की आलोचना–

रॉस के अन्तःप्रज्ञावादी नैतिक सिद्धान्त के विरूद्ध विभिन्न दार्शनिकों ने आपत्ति की। अनेक दार्शनिकों ने रॉस के अन्तःप्रज्ञावाद को सर्वथा अस्वीकारयोग्य मानते हुये उसका खण्डन किया। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम आरोप है कि यह सिद्धान्त एक रहस्यमयी शक्ति की कल्पना करता है जिसके द्वारा हमें नैतिक गुणों अर्थात् कर्तव्य, आन्तरिक शुभत्व, एंव प्रथम दृष्टया औचित्य का ज्ञान होता है। उनका मानना है कि अन्तःप्रज्ञावाद तात्विक एंव ज्ञानमीमांसीय रूप से असाधारण है क्योंकि यह 'अन्य जगत' के निर्प्राकृतिक गुणों के अस्तित्व को मानता है जिसे प्रत्यक्षतः एक रहस्यमयी विशेष नैतिक शक्ति के द्वारा जाना जा सकता है। हालांकि यह धारणा एक कल्पना पर आधारित है। यदि कोई व्यक्ति रॉस के लेखों को भली–भांति पढ़ता है तो वह देखेगा कि रॉस के सिद्धान्तों में ऐसी रहस्यमयी शक्ति का कोई संकेत नहीं मिलता। रॉस का मानना है कि मौलिक नैतिक कथन स्वतःसिद्ध है। इसका अर्थ यह है कि हम इन कथनों को केवल इनकी समझ के आधार पर जान सकते हैं। अर्थात् वे *प्रागनुभविक* रूप से ज्ञात हैं। रॉस किसी रहस्यमयी शक्ति की कल्पना नहीं करते हैं बल्कि वे मानते हैं कि हमारे अन्तर्गत नैतिक गुणों को प्रागनुभविक रूप से जानने की क्षमता विद्यमान है। अतः नैतिक ज्ञान अन्य प्रागनुभविक ज्ञान के समान रहस्यमयी नहीं है। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि प्रागनुभविक ज्ञान नित्य सत्यों को जानने के लिये एक रहस्यमयी शक्ति को मानता है। परन्तु यह विचार भी असंगत है। जैसा कि फिलिप स्ट्रैटन–लेक का कहना है, "But I see no reason why we should think that *a priori* knowledge requires such a mysterious faculty. All it requires is the ability to understand and think."।[10] अर्थात् मुझे इस बात को सोचने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि प्रागनुभविक ज्ञान ऐसी रहस्यमयी शक्ति की अपेक्षा रखता है। यदि वह अपेक्षा रखता है तो मात्र समझने एंव सोचने की क्षमता की।

हमने यह देखा कि रॉस ने निश्चित नैतिक कथनों को स्वतःसिद्ध माना अर्थात् इन कथनों को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती है। उनके इस विचार के विरूद्ध कुछ चिन्तकों का कहना है कि यह विचार रूढ़िवाद की ओर ले जाता है। पी0 एच0 नॉवेल स्मिथ ने इस सिद्धान्त की आलोचना की। उनका मानना है कि नैतिक कथन स्वतः सिद्ध नहीं होते क्योंकि उनके सम्बन्ध में लोंगो के विचारों में संघर्ष देखने को मिलता है साथ ही उस संघर्ष को समाप्त करने का कोई उचित मापदंड भी नहीं मिलता। उनके शब्दों में, "If I do not recognize the truth of your statements of objective moral fact, you can do nothing to convince me by argument but are, like the subjectivist, thrown back on force or aquiescence."।[11] अर्थात् यदि मैं आपके वस्तुनिष्ठ नैतिक तथ्यों से सम्बन्धित कथन को सत्य नहीं मानता, तो आप मुझे किसी तर्क द्वारा उसकी सत्यता का विश्वास नहीं दिला सकते। इस आपत्ति के विरूद्ध यह कहा जा सकता है कि हालांकि यह सम्भव है कि हमारे अधिकतर नैतिक

विश्वास हमारी शिक्षा, स्वार्थ, या विचारधारा पर निर्भर करते हों परन्तु स्वतःसिद्ध नैतिक कथनों के प्रति वचनबद्धता विशेष रूप से रॉस जैसे अन्तःप्रज्ञावादी को रूढ़िवादिता की चपेट में नहीं ला सकती क्योंकि रॉस ने यह दावा नहीं किया कि प्रत्येक नैतिक कथन स्वतः सिद्ध हैं बल्कि रॉस यह कहते हैं कि यह स्थिति केवल उन स्पष्ट मौलिक नैतिक विश्वासों से सम्बन्धित है जो सावधानी पूर्ण विचार के बाद भी बने रहते हैं। उन्होंने स्पष्टतः यह कहा है कि न तो प्रत्येक नैतिक कथन स्वतःसिद्ध होते हैं और न ही प्रत्येक के लिये स्वतःसिद्ध होते हैं। उनका मानना है कि जब व्यक्ति पर्याप्त मानसिक परिपक्वता तक पहुंच जाता है तब उसे इन कथनों का ज्ञान होता है।[12]

रॉस द्वारा प्रतिपादित कर्तव्यों का सिद्धान्त भी विवादस्पद रहा। इस सिद्धान्त के विरूद्ध चिन्तकों का मानना है कि यदि कर्तव्यों का मौलिक सिद्धान्त स्वतःसिद्ध है तो इसके सम्बन्ध में नैतिक असहमति नहीं होनी चाहिये। परन्तु हम देखते हैं कि नैतिक असहमति है। अतः यह मानना पड़ेगा कि कर्तव्यों का नैतिक सिद्धान्त स्वतःसिद्ध नहीं है। रॉस ने इस तर्क का खण्डन किया क्योंकि उनके अनुसार यह विचार असंगत है। रॉस के शब्दों में, "...the diversity of opinion on moral questions is found to rest not on disagreement about fundamental moral principles, but partly on different views which people hold, not on moral questions but on questions of fact."।[13] अर्थात् नैतिक प्रश्नों के सन्दर्भ में मतों की विभिन्नता मौलिक नैतिक सिद्धान्तों के विषय में असहमति पर निर्भर नहीं करती बल्कि यह आंशिक रूप से विभिन्न समाजो की परिस्थितियों में अन्तर पर तथा व्यक्तियों के मध्य भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों पर निर्भर करती है। अतः प्रत्येक समाज के नियम एंव कानून में भिन्नता के कारण ही मतों में भिन्नता होती है।

कुछ चिन्तकों ने इस सिद्धान्त की उपेक्षा करते हुये कहा कि रॉस ने नैतिक तथ्यों एंव कथनों को निर्प्राकषतिक माना जिसका ज्ञान व्यक्ति को अन्तःप्रज्ञा के माध्यम से होता है। परन्तु यदि नैतिक तथ्य निर्प्राकषतिक है तो इनका व्यक्ति के इच्छित कर्म से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होगा। अब यदि ऐसा है तो यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि इन तथ्यों को व्यक्ति कैसे जानता है? चूंकि यह न तो बुद्धि की विषय–वस्तु है और न ही पंच ज्ञानेन्द्रियों की। ऐसी स्थिति में यह दावा करना कि इनका ज्ञान अन्तःप्रज्ञात्मक है, दोषपूर्ण जान पड़ता है। इसी कारण जी0 जे0 वॉरनॉक ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना करते हुये कहा कि, "It is rather that the theory, appraised as a contribution to philosophy, seems deliberately, almost perversely, to answer no questions, to throw no light on any problem."।[14] अर्थात् इस सिद्धान्त को दर्शनशास्त्र में महत्वपूर्ण योगदान के रूप में आँका गया परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धान्त न नो किसी प्रश्न का कोई उत्तर देता है और न ही समस्या का समाधान ही करता है।

निष्कर्ष–

उपरोक्त समीक्षा के आधार पर हम कह सकते हैं कि रॉस का नैतिक अन्तःप्रज्ञावादी सिद्धान्त आधुनिक अधिनैतिक विचार में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्होंने अन्तःप्रज्ञा को अज्ञात रहस्यमयी शक्ति न मानकर उसे व्यक्ति की समझ एंव बुद्धि पर आधारित माना। इसके बावजूद भी रॉस के सिद्धान्त के विरूद्ध विभिन्न आक्षेप किये गये परन्तु हमने देखा कि कुछ आपत्तियां स्वतः निराधार हैं। ये आपत्ति रॉस के दृष्टिकोण को ठीक तरह न समझ पाने के कारण ही उठाई गई है।

हालांकि मेरे विचार में जब रॉस कहते हैं कि हमारे पूर्वानुभवों से परिपक्व होकर हम वयस्क होते हैं तभी हम अपनी बौद्धिक अन्तःप्रज्ञात्मक शक्ति से नैतिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब रॉस अपरोक्ष रूप से अनुभववादी विचार को मान लेते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि रॉस का ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त पूर्ववर्ती दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक सुसंगत एंव सुव्यस्थित है। यदि हम रॉस के दृष्टिकोण की उचित समीक्षा करे तो अवश्य ही हम एक ईमानदार, विचारशील नैतिक दार्शनिक को खोज पाएंगे जिनके दृष्टिकोण को वह सम्मान मिलना चाहिये जो उन्हें वास्तव में नहीं मिला।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची–

1. Strawson, P.F. (1949). **"Ethical Intuitionism".** ***Royal Institute of Philosophy*****.** Cambridge: Cambridge University Press. Vol. 24. No. 88. 23.
2. Cudworth, R. (1731). ***A Treatise concerning Eternal and Immutable Morality*****.** London: James and John Knapton. 58.
3. Ross, W.D. (1939). ***Foundation of Ethics*****.** Oxford: Clarendon Press. **22-23**.
4. Ross, W. D. (2002). ***The Right and the Good***. Philip Stratton-Lake. (ed.). New York: Oxford University Press. **29-30**.
5. Ross, W. D. (2002). ***The Right and the Good***. Philip Stratton-Lake. (ed.). New York: Oxford University Press. **30**.
6. Moore, G.E. (1873). ***Principia Ethica***. Cambridge: Cambridge University Press. **6**.
7. Ross, W. D. (2002). The Right and the Good. Philip Stratton-Lake. (ed.). Op.Cit. 9.
8. Ross, W. D. (2002). The Right and the Good. Philip Stratton-Lake. (ed.). Op.Cit.Xliii.
9. Ross, W. D. (2002). The Right and the Good. Philip Stratton-Lake.(ed.).Op.Cit. 32.
10. Ross, W. D. (2002). The Right and the Good. Philip Stratton-Lake.(ed.).Op.Cit. Xliv.
11. Nowell-Smith, P. H. (1956). Ethics. London: Penguin. 46.
12. Ross, W. D. (2002). The Right and the Good. Philip Stratton- Lake. (ed.). Op. Cit. 12.
13. Ross, W. D. (1939). Foundation of Ethics. Op. Cit. 18.
14. Warnock, G.J. (1967). ***Contemporary Moral Philosophy***. London: MacMillan. 12-13.